द्वितीय अध्याय का सार-संक्षेप

सांख्ययोग नामक दूसरे अध्याय का प्रारम्भ संजय द्वारा राजा धृतराष्ट्र के प्रति कहे गए अर्जुन की शोकमग्न स्थिति के वर्णन तथा श्रीभगवान् द्वारा अर्जुन से अपनी बात कहने के लिए उन्मुख होने से होता है। श्रीभगवान् अगले दो श्लोकों में इस असमय में अर्जुन के अवसाद के लिए आश्चर्य करते हुए उन्हें **परन्तप** सम्बोधित कर पुरुषार्थहीनता को त्याग कर युद्ध हेतु तत्पर होने के लिए उत्साहित करते हैं।

अर्जुन ने प्रथम अध्याय में अपने विषाद का जो वर्णन 28 वें श्लोक से प्रारम्भ कर अध्यायान्त तक किया, उससे वे अभी उबर नहीं पा रहे हैं और उनके मन में जो मोह मन्थन चल रहा है उसे व्यक्त करते हुए भीष्म-द्रोणदि पूज्यगुरुजनों के साथ युद्ध करने में अपनी असमर्थता, तथा उन्हें मारने की अपेक्षा भिक्षा मांग कर जीवन यापन करने के औचित्य की बात कहते हैं। हमारे लिए युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा युद्ध न करना तथा युद्ध में हम जीतेंगे अथवा धृतराष्ट्र पुत्र? इसका भी अर्जुन को संशय है। अर्जुन की मानसिक व्यथा इतनी गहरी है कि वे स्वयं ही अपने को कायरतारूपी दोष से अभिभूत स्वभाव वाला तथा मोहित अन्तःकरण वाला मानकर शिष्य भाव से अपनी शरणागति को दर्शाते हुए श्रीकृष्ण से सुनिश्चित कल्याणकारी मार्ग बताने की याचना करते हैं। किन्तु तत्क्षण ही अपनी व्यथा के कुचक्र में पुनः स्थित होकर त्रिलोकी के निष्कण्टक राज्य को भी शोक निवृत्ति में उपाय न मानकर वैराग्य भाव भी प्रदर्शित करते हैं। यह क्रम द्वितीय अध्याय के आठवें श्लोक तक चलता है।

पुनः दो श्लोकों में संजय द्वारा राजा धृतराष्ट्र को पहले **'परन्तप'** तथा बाद में **भारत** सम्बोधित करते हुए अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कहे गये अपने अन्तिम निर्णय **न योत्स्ये इति गोविन्दम्** अर्थात् **गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा** तथा श्रीकृष्ण द्वारा हँसते हुए-से बोलने की बात कही गयी है। श्रीकृष्ण के हँसते हुए-से का रहस्य यह है कि प्रथम अध्याय के इक्कीसवें श्लोक से लेकर द्वितीय अध्याय के नवें श्लोक तक अर्जुन द्वारा अनेक प्रकार के भाव व्यक्त किये गये। सर्वप्रथम युद्ध करने का वीरोचित भाव प्रदर्शित करते हुए दोनों सेनाओं के मध्य में अपना रथ खड़े करने के लिए कहना, पुनः विषादयुक्त भावों की एक

अत्यन्त लम्बी तर्कयुक्त श्रृंखला, तत्पश्चात् शरणागति के पश्चात् शिक्षा देने के लिए कहने का विपरीत भाव और अन्त में श्रीभगवान् के कुछ कहने के पूर्व ही स्वयं युद्ध न करने के निश्चय की घोषणा कर मौन हो जाना आदि इतने प्रकार के उपक्रम हो गये कि इनको एक ही तारतम्य में सुनकर श्रीभगवान् को हंसी-सी आ गयी।

ग्यारहवें श्लोक से श्रीभगवान् ने गीतोपदेश प्रारम्भ कर सांख्ययोग में क्रमशः सत्-असत् का बोध कराते हुए आत्मा की नित्यता और निर्विकारिता का निरूपण, समस्त भोगों को अनित्य बताकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करने के लिए तितिक्षा करने, तितिक्षा कर समभाव में रहते हुए इन्द्रियों के विषयों के संयोग से विचलित न होने पर मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया है। पुनः तत्त्वदर्शी महापुरुषों के अनुभव का सन्दर्भ देते हुए सत-असत् की विशद् विवेचना के उपरान्त अर्जुन को युद्ध करने का निर्देश तथा आत्मा को मरने या मारने वाला जानने वालों को अज्ञानी की संज्ञा देते हुए छह विकारों से रहित आत्मा के स्वरूप के निरूपण के साथ आत्मतत्त्वविद् का किसी को मरवाने अथवा मारने के भाव से मुक्त होना व्यक्त किया गया है। इस सांख्य निष्ठा के अन्तर्गत ही आत्म तत्त्व की निर्विकारिता का स्वरूप व्यक्त करने के लिए श्रीभगवान् ने मनुष्य द्वारा पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करने का अत्यन्त सरल एवं नित्य अनुभवजन्य दृष्टान्त दिया है।

23 वें श्लोक से 25 वें श्लोक तक आत्म तत्त्व का वर्णन, विधि एवं निषेध दोनों विधियों से है, जिसमें आत्मा को निषेध पद्धति से अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकार्य और विधि पद्धति से नित्य, सर्वगत, स्थाणु तथा सनातन बताया गया है। श्रीभगवान् का संकेत है कि अचिन्त्य परमात्म तत्त्व के चिन्तन के लिए उसकी विधिगत और निषेधगत विशेषताओं तथा वह क्यों अचिन्त्य है; इसी का चिन्तन और अनुभव करना चाहिए। सांख्य योग के ही प्रकरण में यह भी वर्णन आता है कि यदि आत्मा को सदा जन्मने-मरने वाला तथा कारण-कार्य के संघात रूप ही सभी प्राणियों की उत्पति मानी जाये तो भी इसके लिए शोक का कोई कारण नहीं है क्योंकि इनके अनुसार भी जीवन-मृत्यु का सतत प्रवाह चलता रहता है तथा सभी भूत-प्राणी जन्म से पूर्व तथा मृत्यु पश्चात अप्रकट अवस्था में ही रहते हैं और केवल बीच में

ही प्रकट होते हैं।

सांख्ययोग निष्ठा का जो प्रतिपादन श्रीभगवान् ने ग्यारहवें श्लोक से प्रारम्भ किया उसी क्रम में आत्मतत्त्व के द्रष्टा, वक्ता और श्रोता की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए अन्त में तीसवें श्लोक तक आत्मा के सर्वथा अवध्य होने के कारण इस पारमार्थिक सत्य के लिए किसी प्रकार का शोक अनुचित है का कथन इस विशिष्ट निष्ठा के अन्तर्गत व्यक्त किया है।

31 वें श्लोक से सांख्य निष्ठा को ही केन्द्रित कर क्षात्रधर्म, स्वधर्म तथा धर्माधर्म विवेक का तत्त्वज्ञान देने के उपरान्त 37 वें श्लोक में श्रीभगवान् का कथन है: अर्जुन! यदि तुम युद्ध में मारे जाते हो तो तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि युद्ध में जीत जाते हो तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे; तुम्हारे लिए दोनों ही विकल्प कल्याणकारी हैं, अतः तुम युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ **तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः।** यदि स्वर्ग प्राप्ति अथवा भौतिक सुखों की इच्छा न हो तो भी स्वधर्म पालन की अनिवार्यता सभी के लिए है अतः व्यवहार में समभाव रखते हुए सभी शास्त्र विहित कर्म करते रहना चाहिए। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख में समभाव रखकर युद्ध करने से पाप भी नहीं लगता है।

सांख्य योग में समभाव रूप बुद्धि का वर्णन करने के उपरान्त इसी समभाव को कर्मयोग के विषय में सुनाने के उपक्रम का उद्घोष 39 वें श्लोक में है। तत्पश्चात् कर्मयोग की महिमा, व्यवसायात्मिका बुद्धि और अव्यवसायिनाम् बुद्धि का भेद निरूपण और स्वर्गपरायण सकाम मनुष्यों के स्वभाव का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् द्वारा उपदेश दिया गया है कि अर्जुन! तुम वेदों में वर्णित तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, निर्द्वन्द्व, योग-क्षेम न चाहने वाले, आत्म परायण बनो तथा परमात्मा में स्थित हो जाओ। आगे ब्रह्म तथा वेद-शास्त्रों को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण के लिए वेदोक्त कर्मफलरूप सुख भोग की अप्रयोजनीयता बताकर गीता के अति महत्वपूर्ण श्लोक का उल्लेख सूत्र रूप में है; **तेरा कर्तव्य-कर्म करने मात्र में ही अधिकार है उसके फलों पर कभी नहीं, इसलिए तुम कर्म के फल के हेतु भी मत बनो और तुम्हारी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।**

गीतोपदेश प्रारम्भ करने के उपरान्त श्रीभगवान् ने स्वतन्त्र रूप से **योग** शब्द का प्रयोग प्रथम बार 48 वें श्लोक में करते हुए इसे **समत्वम् योगः उच्यते** कहकर परिभाषित किया है। तत्पश्चात् समबुद्धि की अपेक्षा फल के हेतु बनने वालों को अत्यन्त दीन बताते हुए समत्वरूप कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए अर्जुन को इस योग में लग जाने का उपदेश देते हैं क्योंकि इस योग को अपनाने से मनुष्य को अनामय पद की प्राप्ति होती है। श्रीभगवान् का यह भी उपदेश है कि बुद्धि के मोहरूपी दलदल से भलीभांति पार होने पर तथा शास्त्रीय एवं भांति-भांति के मतभेदों से विचलित न होकर समाधि में निश्चल और स्थिर होने से अर्जुन! तुम योग को प्राप्त हो जाओगे। आदि शंकराचार्य के अनुसार **सम्यक आधीयते अस्मिन् चित्तम् सर्वम् इति समाधिः** (सभी चित्तवृत्तियों का भली प्रकार से जिसमें समाधान हो जाये वह 'समाधि' है)।

स्थिर बुद्धि पुरुष की वर्णित महिमा को देखते हुए अर्जुन उसे **स्थितप्रज्ञ** कहते हुए उसके सम्बन्ध में 4 प्रश्न करते है यथा; स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं?, वह कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता है?। प्रथम प्रश्न स्थितप्रज्ञ के आन्तरिक स्वभाव तथा शेष 3 प्रश्न उसके बाह्य जगत में व्यवहार के सम्बन्ध में तथा सांकेतिक हैं। अतः बोलने का तात्पर्य वाणी द्वारा प्रस्फुटित ध्वनि मात्र से न होकर मन के भावों से भावित तथा ओतप्रोत होकर व्यक्त होने वाले वचन से, बैठने से तात्पर्य सामान्य विश्राम की स्थिति से न होकर व्यवहाररहित काल में उसके इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की स्थिति से तथा चलने से तात्पर्य चलने के ढंग से न होकर सांसारिक कार्य के समय उसके आचरण तथा व्यवहार से है।

साधक के मन में आयी सम्पूर्ण कामनाओं का भलीभांति त्याग तथा अपने आप से आत्मा में संतुष्ट रहने की स्थिति प्रथम प्रश्न का उत्तर है; यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर इतना व्यापक है कि आगे के शेष तीन प्रश्नों के उत्तर का भी अन्तर्भाव इसी प्रश्न के उत्तर में आ जाता है। दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभगवान् का कथन है कि दुःखों से उद्विग्न न होना, सुखों में स्पृहा न होना, राग-भय-क्रोध से सर्वथा रहित, अनासक्त तथा शुभ-अशुभ की प्राप्ति में समभाव अर्थात् अन्तःकरण के इन भावों से ही वाणी का तात्पर्य है।

तीसरे प्रश्न का उत्तर 58 वें श्लोक से प्रारम्भ होकर 63 वें श्लोक तक

चलता है। इस प्रश्न के समाधान क्रम में इन्द्रिय संयम पर विशेष बल देते हुए संयम की विधि बतलाने के लिए कछुए का अत्यन्त सुपरिचित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार खतरे की आशंका होते ही कछुआ अपने बाहर निकले हुए अंगों को समेट लेता है वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष विषयों का सामना होते ही अपने मन तथा इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर लेता है। इसी प्रश्न के उत्तर में आगे आसक्ति नाश के उपाय, आसक्ति-नाश न होने का दुष्परिणाम, प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियों को वश में रखने के लिए साधक के परमात्मा के परायण होने के सुनिश्चित उपाय का वर्णन है। पुनः मन सहित इन्द्रियों के वश में न होने तथा भगवान् के परायण न होने से हानि की चर्चा एक सुन्दर श्रृंखला के रूप में की गयी है यथा; विषयों का मन द्वारा चिन्तन→आसक्ति→कामना→क्रोध→ मूढ़भाव→स्मृति भ्रम→बुद्धि (विवेक) के नाश→पुरुष के पतन का उल्लेख है।

अर्जुन के चौथे तथा अन्तिम प्रश्न का उत्तर तथा समाधान 64 वें श्लोक से प्रारम्भ कर 71 वें श्लोक तक प्रस्तुत किया गया है। इसमें क्रमशः राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने वाले को प्रसाद (अन्तःकरण की प्रसन्नता) की प्राप्ति, इससे सम्पूर्ण दुःखों का नाश, प्रसन्नता की प्राप्ति से बुद्धि की परमात्मा में स्थिरता की बात कही गयी है। इसके विपरीत अन्तःकरण और इन्द्रियों के अनियंत्रित होने से निश्चयात्मक बुद्धि का अभाव, इस अभाव से शान्ति और सुख की दुर्लभता तथा इन्द्रियों में से किसी इन्द्रिय के साथ मन के संयोग से बुद्धि के हरण को जल में चलने वाली नौका को वायु द्वारा हरण के दृष्टान्त के साथ प्रस्तुत किया गया है। पुनः श्रीभगवान् जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषयों से सभी प्रकार से वश में की हुई हैं, उसे **स्थिर बुद्धि** अर्थात् **स्थितप्रज्ञ** कहते हैं। स्थिर बुद्धि संयमित पुरुष और सामान्य विषयासक्त मनुष्य में क्या भेद है इसका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् का वचन है कि सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात्रि (परमात्मा से विमुखता) है, उसमें संयमी (स्थितप्रज्ञ) मनुष्य जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रह में लगे रहते हैं) वह तत्त्वदर्शी मुनि की दृष्टि में रात्रि के समान है।

भेद व्यक्त करने के उपरान्त 70वें श्लोक में स्थितप्रज्ञ पुरुष तथा सामान्य भोगों की कामना वाले मनुष्य की उपलब्धियों का अन्तर स्पष्ट करते हुए

स्थितप्रज्ञ की महिमा का वर्णन समुद्र के दृष्टान्त से किया गया है। जैसे परिपूर्ण समुद्र में नदियों की जलधाराएं निरन्तर गिरती रहती हैं किन्तु समुद्र कभी भी अपने तटबन्धों का उल्लंघन नहीं करता है, वैसे ही सभी भोग्य पदार्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रवेश करते हैं परन्तु वह परमशान्ति में स्थित रहता है। दूसरी ओर भोगों की कामनावाले मनुष्य के लिए यह कार्य असम्भव है।

अर्जुन के चौथे प्रश्न **स्थित प्रज्ञस्य व्रजेत किम्?'** जो आचरण तथा व्यवहार विषयक है का समाधान 71 वें श्लोक में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वह सम्पूर्ण कामनाओं, स्पृहा, ममता तथा अहंकार से रहित होकर अपने वर्ण- आश्रम तथा कर्तव्य-कर्म के अनुसार आचरण करता है और शान्ति को प्राप्त होता है। स्थितप्रज्ञ पुरुष गीता का आदर्श पुरुष है। आत्म विषयक सांख्यबुद्धि और स्वधर्म पालन रूप कर्मयोग विषयक योग बुद्धि दोनो का साध्य **स्थितप्रज्ञता** तथा स्थिति **ब्राह्मीस्थिति** है का वर्णन करते हुए **ब्राह्मीस्थिति** के इस माहात्म्य के साथ कि जीवनमुक्त, कर्मयोगी तथा स्थितप्रज्ञ महात्मा **ब्राह्मीस्थिति** में ही निरन्तर अवस्थित रहते हुए ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं, इस द्वितीय अध्याय का समापन किया गया है।